आओ कुछ नया सोचें (1)

आओ कुछ नया सोचें, कुछ नवीन चिन्तन करें। पर, क्या कुछ नया सोचा जा सकता है, कोई नवीन चिन्तन किया जा सकता है? क्या जयन्त भट्ट ने यह नहीं कहा था कि 'कुतो वा नूतनम् वस्तु?' और फिर 'नया' होता ही क्या है? उनके अनुसार तो सब कुछ 'वचोविन्यास वैचित्र्यमात्र' है। पर, 'विन्यास वैचित्र्य' को 'नया' क्यों नहीं कहा जा सकता? यह तो कुछ ऐसा ही है कि कोई यह कहे कि आखिर ताजमहल में कौन सी नई बात है, वह तो संगमरमर के टुकड़ों को ही इकट्ठा कर एक नया रूप देना है। और ऐसा कहने वाले और अपने को दार्शनिक समझने वाले आपको बहुत से लोग आसानी से मिल जायेंगे। पर, जरा सोचिए कि ऐसा मानने का क्या नतीजा होगा? आखिर चित्रों में भेद तो केवल रंगों के या लकीरों के 'विन्यास वैचित्र्य' का ही होता है। और, आखिर लिखना, बोलना भी क्या शब्दों का विन्यास-वैचित्र्य नहीं है? शैक्सपीयर हो या कालिदास, बेचारे शब्द तो अपनी भाषा के ही प्रयोग करते हैं। हाँ, कभी-कभी कोई नया शब्द भी गढ़ लेते हैं, पर, अगर भूले-भटके कोई लेखक ऐसा कर भी ड़ाले तो उसके लिए क्या यह नहीं कहा जा सकता है कि उसका नया शब्द भी केवल वर्णों का विन्यास वैचित्र्य ही है? सोचिए तो, यह कहने वाले कितनी भूल करते हैं। उनके लिए जब तक कोई नया रंग, नया शब्द, नया वर्ण या नया स्वर नहीं ईजाद हो तब तक सब कुछ 'नयापन' केवल विन्यास वैचित्र्य मात्र ही रह जाएगा। और अगर आप अधिक ध्यान से देखें तो क्या सारा तत्त्व चिन्तन इसी भयंकर भूल पर आधारित नहीं है? यह जानने की अभिलाषा या अभीप्सा पर कि सारा संसार जिन मूल तत्त्वों से बना हुआ है और जिनका ये सब वस्तुएँ केवल विन्यास वैचित्र्य मात्र हैं वही मूल तत्त्व वास्तव में सत् है और यह सब विविधता केवल प्रतीति या माया मात्र है।

इस प्रकार की खोज दर्शन में प्रायः शुरू से ही देखी जाती है। मूल तत्त्व क्या है, इसके अनेक उत्तर दिए गए हैं और दर्शन का इतिहास, चाहे वह पश्चिमी हो या पूर्वी, इससे भरा मिलेगा। पर, क्या ऐसा नहीं लगता कि यह खोज एक मूल भ्रान्ति से ग्रसित है जो यह मानकर चलती है कि विन्यास-वैचित्र्य या संघात या तानाबाना जो उत्पन्न होता है, या उत्पन्न किया जाता है, वह उससे, जिस मूल से वह रचित होता है, सत् की दृष्टि से कुछ कम है? 'रचना' के ये उपकरण ही सत् हैं, रचना स्वयं में तो गौण है क्योंकि वह उन पर आधारित है. और 'आधारित' होना सत्

का, कम से कम चरम् सत् का लक्षण नहीं हो सकता। पर ऐसा मानने का आधार क्या है? मनुष्य की रचनाओं के सम्बन्ध में तो यह स्पष्टतः गलत मालूम होता है क्योंकि यदि इसे स्वीकार कर लिया जाये तो फिर मानव की सारी सृष्टि ही बेमानी लगने लगेगी। पर, ऐसा तो कोई नहीं मानता, ऐसा कौन सिरफिरा होगा जो यह कहेगा कि अजन्ता के चित्र, खजुराहो की मूर्तियाँ, तानसेन का संगीत, कालिदास के नाटक वास्तव में कोई सत् नहीं रखते। और, अगर ये सत् रखते भी हैं तो फिर जिनसे ये रचनाएँ बनी हैं, जिन पर 'आधारित' हैं वह अधिक 'सत्' तो हो ही नहीं सकता। अगर सत् को भी कम-ज़्यादा माना जाये तो अधिकांश लोग उनको इनसे कम सत् ही कहेंगे।

'कम' या 'ज़्यादा' सत् की बात करना एक बात है और 'कम' या 'ज़्यादा' सत्य की बात करना और। क्योंकि एक तरह से यह कहा जा सकता है कि हमारा ज्ञान कम या अधिक सत् है, कुछ अजीब सा ही लगेगा। और, ऐसा तभी कहा जा सकता है जब सत् को मूल्यात्मक दृष्टि से देखा जाए। पर, तब 'सत्' को मनुष्य के मूल्यात्मक परिप्रेक्ष्य में ही देखना होगा। या दूसरी तरह से कहें तो वह पुरुषार्थ सापेक्ष हो जाएगा। अन्यथा जो भी सत् है, वह सब एक ही प्रकार सत्-सत् होगा, न कम न ज़्यादा। यह ठीक है कि हमें मूल्यवत्ता या सार्थकता का अनुभव इस प्रकार नहीं होता कि वह हमारे लिए ही सार्थक या मूल्यवान् है, बल्कि प्रतीत तो ऐसा ही होता है कि वह अपने आप में ही अधिक मूल्यवान् या सार्थक है। परन्तु सत् की दृष्टि से उसे इस प्रकार देखना कहाँ तक उचित होगा यह स्वयं विवादास्पद है।

पर, जरा सोचिए कि अगर हमारे ज्ञान के विषय स्वयं संरचित हैं तो उनकी यह संरचना किस प्रकार की है और कैसे होती है? संरचना के लिए जिससे वह होती है उसकी पूर्वापेक्षा होती है। पर, इसके लिए यह ज़रूरी नहीं है कि वह, जिसकी संरचना के लिए पूर्वापेक्षा है, स्वयं संरचित न हो। वह भी संरचित हो सकता है। पर, अगर ऐसा मानें तो यह शृंखला एक प्रकार से अनन्त हो जाएगी,और अगर हम ढूँढ़ने की चेष्टा करेंगे तो वह किसी ऐसी वस्तु या वस्तुओं में समाप्त होगी जो पूर्णतः असंरचित हैं या पूरी तरह से प्रदत्त हैं। चरम तत्त्व की तलाश कुछ-कुछ इसी प्रकार की है। खासतौर पर जब हम महाभूत आदि के बारे में चर्चा करते हैं तो वह कुछ इसी प्रकार की होती है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश जिनसे एक ज़माने में लोग सारा जगत् बना हुआ मानते थे वे कुछ इसी प्रकार की वस्तुएँ हैं। शरीर में वात, पित्त और कफ भी इसी प्रकार की सोच के परिणाम मालूम होते हैं। और, आज जो इलेक्ट्रोन, प्रोटोन या अन्य इसी प्रकार के कण, जिनकी खोज आधुनिक भौतिकी ने की है, वे भी इसी प्रकार के हैं। क्या इस प्रकार की खोज कभी समाप्त होगी, यह भी अपने आप में विचारणीय प्रश्न है। पर, खोज समाप्त हो या नहीं हो, जो संरचित है वह जहाँ एक ओर उसको पूर्वमान्य करता है जिसके आधार पर या जिसको लेकर उसकी संरचना होती है

वहीं दूसरी ओर वह किसी रचनाकार की ओर भी इशारा करता है। मनुष्य की कृतियों के संदर्भ में तो मनुष्य ही रचनाकार के रूप में प्रस्तुत होता है और अधिकांशत: विचारक यह मानकर चलते हैं कि जो मनुष्य के द्वारा रचित नहीं है वह या तो ईश्वर के द्वारा रचित है या स्वयं में अरचित ही है। 'ईश्वर' यहाँ किसी विशेष सत्ता का अभिप्राय नहीं है बल्कि केवल यह कि जड़ प्रकृति के विपरीत ऐसी कोई चित् शक्ति है जो उस संरचित की कारण है। अधिकांशत: मनुष्य और 'ईश्वर' के बीच किसी और रचनाकार की कल्पना नहीं की जाती। पर, ध्यान से देखें तो एक प्रकार से प्राणिमात्र रचना के कार्य में संलग्न होता है। पशु-पक्षी तो स्पष्ट रूप से अपना वातावरण बनाते ही हैं और उसमें परिवर्तन भी करते रहते हैं। परन्तु यह बात पशु-पक्षियों तक ही सीमित नहीं है। पेड़-पौधों पर भी उसी तरह लागू होती है जैसे पशु-पक्षियों पर। आप पेड़ लगाएँ तो देखिए उसमें कितने प्रकार के परिवर्तन की बात लोगों के मुँह से सुनाई देती है। वह एक प्रकार से पशु-पक्षी आदि के संरचनात्मक तत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करना चाहता है। पर, यह तो सब प्राणिजगत् की चीज़ है। क्या इससे परे जो जड़ जगत् है उसमें कोई संरचना नहीं होती? क्या 'संरचना' शब्द का प्रयोग यहाँ कुछ अजीब-सा नहीं लगेगा? पर अगर कोई यह मानता है कि पृथ्वी पर आज पाए जाने वाले जड़ तत्त्व हमेशा इसी प्रकार के नहीं थे और वास्तव में भौतिकी और रासायनिक शक्तियों के द्वारा उनकी संरचना हुई है, तब यह मानना पड़ेगा कि वे भी संरचना के विषय हैं। जड़ शक्तियाँ ऐसी वस्तुओं को उत्पन्न करती हैं। कोई यह कह सकता है कि इस संदर्भ में 'संरचना' शब्द का प्रयोग ठीक नहीं है, क्योंकि यह केवल एक प्रक्रिया का परिणाम मात्र ही हो सकता है। इसमें कोई ऐसा 'चयन' नहीं होता जिसमें अन्य सम्भावित अवस्थाओं को छोड़कर किसी एक का ही चयन किया गया हो। अगर ऐसा मानें तो 'संरचना' के संदर्भ में यह मानना ज़रूरी होगा कि वह हमेशा अनेक सम्भावित चयनों में से एक होती है और तब जो सम्भावनाएँ छोड़ दी गई होती हैं वे भी उतने ही महत्त्व की होती हैं जितनी कि वह जो चुनी गई है। बौद्धों ने 'अपोह' के सिद्धान्त में यह मान्यता प्रस्तुत की थी कि किसी वस्तु को समझने के लिए उसको अन्य सम्भावित सम्भावनाओं से पृथक् करके देखना ज़रूरी है और केवल उनके ही परिप्रेक्ष्य में उसको वास्तव में समझा जा सकता है। आधुनिक अर्थशास्त्र में कुछ-कुछ इस प्रकार की बात वस्तु के आर्थिक मूल्य को समझने के संदर्भ में की जाती है। जहाँ किसी वस्तु का आर्थिक मूल्य एक प्रकार से उन सब वस्तुओं के मूल्य से सम्बन्धित होता है जिनका त्याग करके या जिनको न खरीद कर मनुष्य उसको खरीदता है।

आधुनिक अर्थशास्त्र में इसे अपॉरचुनिटी कॉस्ट का सिद्धान्त कहा जाता है। यही नहीं, भौतिक शास्त्र में भी, जो पूर्णत: जड़ वस्तुओं से सम्बन्धित माना जाता है, रिचर्ड फाइनमैन जैसे वैज्ञानिकों ने यह कहने की चेष्टा की है कि किसी भी

अन्यतम कोटि के परमाणु कण का रास्ता एक तरह से इस प्रकार निर्धारित किया जाता है कि वह अन्य अनेक मार्गों में से एक ऐसा चयन किया हुआ या चुना हुआ मार्ग है जो सबसे सरल और सीधा है। या यों कहें कि जिसमें उस परमाणु कण को कम से कम शक्ति का व्यय करना पड़ता है। एक प्रकार से यह बात कुछ-कुछ प्रसिद्ध गणितज्ञ और वैज्ञानिक लॉग्राज की इस बात से मिलती-जुलती मालूम होती है जिसमें उसने यह कहा था कि प्रकृति के नियम पता लगाने का सबसे सीधा और सरल रास्ता यह है कि हम यह मानकर चलें कि जिसका हम पता लगाने की कोशिश कर रहे हैं उसमें प्राकृतिक शक्तियाँ अपने लक्ष्य को पूरा करने में कम से कम समय में कम से कम शक्ति का उपयोग करती है। पर, भौतिकी में चाहे इसका महत्त्व कुछ भी क्यों न हो, किसी वस्तुस्थिति को संरचना-संदर्भ में देखने का मतलब ही यह होता है कि हम उसको एक कालक्रम में ले सकते हैं और इस तरह उसको दो रूपों में एक-साथ देखने की कोशिश करते हैं जो एक दूसरे से संलग्न होते हुए भी भिन्न-भिन्न है। इसमें से एक रूप तो उसका वह है जो हमारे सामने है, जिसको हम समझने की चेष्टा करते हैं और जिस संदर्भ में हम अपने 'समझने' को सत्य या असत्य ठहराते हैं। परन्तु दूसरा प्रदत्त न होकर सम्भावित होता है और सम्भावित रूप के बारे में यह कहना कठिन होता है कि वह सत्य है या असत्य। उसके बारे में तो केवल यही कहा जा सकता है कि वह असम्भव नहीं है और अगर हम पहले की वस्तुस्थिति पर ध्यान दें तो उसका सम्भावित होना सार्थक भी लगता है।

एक तरह से यह बात इतिहास के संदर्भ में बार-बार उठती है। जो भी इतिहास पढ़ता है या लिखता है उसे बार-बार यह महसूस होता है कि उस समय ऐसा भी हो सकता था,अगर उसने ऐसा किया होता तो ऐसा नहीं होता। आज जो हुआ है वह नहीं था और इससे भी अधिक अचम्भा तो यह होता है कि उस ज़माने के लोग जो कुछ करने में लगे हुए थे, और खूब सोच-विचार कर ही काम कर रहे थे, उनके कार्य-कलापों का फल बाद में जो होता है वह उस सबसे बहुत अलग होता है जिसे वे चरितार्थ करने की कोशिश कर रहे थे। अगर आज जो है उसको सच मानें तो क्या कोई सोच सकता था कि उन लोगों की, जिन्होंने भारत की स्वतंत्रता के लिए अथक और अनवरत चेष्टा की और जिनमें महात्मा गाँधी जैसे लोग भी थे, सारी कोशिश का नतीजा ऐसा स्वतंत्र भारत होगा जो आज सब के सामने है? तो, क्या यह मानना होगा कि प्रदत्त और सम्भावित रूप में कोई तालमेल होता ही नहीं है और आज जो प्रश्न है वह किसी सम्भावित तथ्य का अंग या अंश नहीं है? ज्ञान के संदर्भ में इस प्रश्न को उठाना ज्ञान की आधारशिला को ही हटा देना है, क्योंकि ज्ञान की आधारशिला यह मानकर चलती है कि जो है सो है और जो है वह सदैव वैसे ही था और वैसा ही रहेगा, पर, अगर यह आधारशिला

ही गलत है तो फिर ज्ञान की बात करना निरर्थक ही होगी, क्योंकि वह एक मूल भ्रांति पर ही आधारित मानी जाएगी।

कुछ लोगों ने ऐसा माना भी है और दार्शनिकों ने इस आधार पर सारे जगत् को, जिसमें हमेशा परिवर्तन होता रहता है, असत् ठहराया है। गीता का इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध वाक्य है कि 'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः' जिसका अर्थ यह है कि जो है उसका कभी अभाव नहीं होता और जिसका अभाव होता है वह कभी सत् नहीं हो सकता। परन्तु, जगत् में तो सब वस्तुओं का जिन्हें हम जानते हैं और जिनके बारे में हम जानने की कोशिश करते हैं उनका, न्याय की शब्दावली में, प्रागभाव और ध्वंसाभाव दोनों होते हैं। इन शब्दों का मतलब सीधा-सीधा यही है कि जिस वस्तु को हम प्राप्त करने की कोशिश में हैं वह कभी नहीं थी और एक ऐसा समय भी आयेगा जब वह नहीं होगी। इस प्रकार से अगर हम गीता की बात मान लें तो इन सब वस्तुओं का, जिनका जन्म और नाश दोनों होता है, ज्ञान हो ही नहीं सकता या जो भी ज्ञान होगा वह ज्ञान कहलाने का अधिकारी ही नहीं होगा। दूसरी ओर, अगर हम किसी ऐसी वस्तु की कल्पना करें जिसका न जन्म होता है और न नाश, तब उसके 'ज्ञान' के बारे में यह समस्या उठेगी कि क्या उस ज्ञान का भी जन्म और नाश नहीं होता? कहने का मतलब यह है कि ज्ञान ऐसी प्रक्रिया है या उस प्रक्रिया का फल है जिसके बारे में यह कहना सार्थक है कि वह कभी नहीं था, कि हम अज्ञान की अवस्था में थे, और अब ज्ञान हुआ है। और अगर यह बात सच है तो कम से कम उस चिरंतन सत् के बारे में भी जो ज्ञान होगा वह अज्ञान की अवस्था को हटाकर ही उत्पन्न होगा और इसलिए वह स्वयं चिरन्तन नहीं कहा जा सकता और यदि ऐसा है तो वह स्वयं सत् कहलाने का अधिकारी नहीं होगा। यहाँ एक और भी समस्या उत्पन्न होती है, वह यह है कि अगर हम यह मान भी लें कि ज्ञान किसी प्रक्रिया का फल है जो उसको उत्पन्न करती है चाहे उसका विषय सत् हो या असत् तो भी एक बार उत्पन्न होने के बाद क्या उसका अभाव हो सकता है? साधारण रूप में जिस प्रकार का ज्ञान होता है उसके बारे में यह कहना कठिन होगा कि वह ज्ञान फिर प्राप्त नहीं हो जाता। उसकी विस्मृति हो सकती है और ऐसा कोई नियम प्रतीत नहीं होता कि एक बार अगर ज्ञान हो गया तो वह हमेशा के लिए हमारे पास रहेगा। और 'हमारे पास रहने' का क्या अर्थ है? इसका यह तो अर्थ नहीं हो सकता कि वह हमारी चेतना का एक ऐसा अभिन्न अंग है कि 24 घंटे हमारे पास रहेगा। आखिर हम सोते भी हैं, और भी अनेक काम करते हैं, और अगर यह सच है तो उसका 24 घंटे हमारी चेतना का अभिन्न अंग होना असम्भव ही होगा। अगर हम यह मानें कि इसका अर्थ यह नहीं होकर यह है कि हम जब चाहें उसको पुनः प्राप्त कर सकते हैं, तब समस्या यह होगी कि क्या यह जब पुनः हमारे चाहने पर हमारी चेतना में उपस्थित होगा तब क्या वह पूर्णरूपेण वैसा ही होगा जैसा कि पहले था? कहने का आशय यह है कि चेतना

का कालक्रम में जो प्रवाह है उससे वह क्या बिल्कुल अछूता रह जायेगा, और यह भी कि हम यह कैसे कह पायेंगे कि वास्तव में यह ज्ञान बिल्कुल वैसा ही है जैसा कि पहले था? एक तरह से यह सब प्रकार की स्मृतियों की समस्या है और इसका कोई समाधान मुश्किल ही मालूम होता है। लेकिन ज्ञान के संदर्भ में यह समस्या ऐसे अनेक प्रश्नों को जन्म देती है जो चिरंतन सत् की बात को मानने पर भी उसके ज्ञान के बारे में नहीं सुलझती, बल्कि अधिक उलझती ही मालूम होती है। आखिर सोचिए कि ज्ञान मनुष्य को होता है, और मनुष्य अनेक हैं और वे मरणशील भी हैं। इसलिए जो चिरंतन सत् का ज्ञान मनुष्य को होता है वह किसी मनुष्य विशेष को होता है और परम्परा से उसके द्वारा अन्यों को प्राप्त होता है। पर, जैसे यह समस्या है कि चिरंतन सत् का ज्ञान जब किसी व्यक्ति को एक बार हो जाता है उसके बाद जब वह उसके फिर स्मरण के द्वारा अपनी चेतना में प्राप्त करता है तो वह उसी प्रकार का होता है जैसा कि पहले का था, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, इसी प्रकार यह भी समस्या उठती है कि एक व्यक्ति का चिरंतन सत् का ज्ञान दूसरे व्यक्ति के चिरंतन सत् के ज्ञान से भिन्न है या वैसा ही है? भिन्न वह हो नहीं सकता, लेकिन फिर भी यह कैसे पता चलेगा कि वह क्या है? भगवान् महावीर और बुद्ध दोनों एक ही समय में और एक ही स्थान पर हुए थे और महावीर अपने को सर्वज्ञ भी मानते थे और कुछ हद तक भगवान् बुद्ध भी मानते थे। पर दोनों का सत् का ज्ञान क्या एक ही था? क्या दोनों एक दूसरे के सत् के ज्ञान से अवगत थे और अगर थे तो क्या उन्हें लगता था कि दूसरा ज्ञान वास्तव में ज्ञान ही नहीं है। यह बात केवल भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध पर ही लागू नहीं होती। यह तो उन सबके ऊपर लागू होती है जो अपने को चिरंतन सत् का ज्ञाता मानते हैं, फिर चाहे वह ईसा हो या मोहम्मद, शंकर हो या रामानुज या कोई भी अन्य नाम जो इतिहास में इस बात से जुड़ा है। आज के युग में भी श्री अरविन्द और रमण महर्षि, जो एक दूसरे के समकालीन थे और एक दूसरे से बहुत ज्यादा दूर नहीं रहते थे, के बारे में भी क्या वह बात सच नहीं है जो भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध के बारे में थी? कहने का मतलब यह है कि दो या दो से अधिक व्यक्तियों का ज्ञान उस चरम सत् के बारे में एक-सा हो सकता है, इसका निर्णय कैसे किया जाए?

इस तरह ऐसा मालूम होता है कि ज्ञान के बारे में जितनी भी प्रचलित दार्शनिक मान्यताएँ हैं वे सब ठीक नहीं हैं। ज्ञान हमेशा किसी ऐसी दी हुई वस्तु का नहीं हो सकता जो वस्तु मनुष्य या किसी अन्य के द्वारा सृजित नहीं हो। यही नहीं, अगर सोचें तो ज्ञान स्वयं किसी किसी ऐसी प्रक्रिया का फल होता है जिसको हम चिन्तन का नाम देते हैं और जो पहले तो विचार में प्रतिफलित होता है और फिर भाषा में आबद्ध होकर बोला या लिखा जाता है, और तब यह एक ऐसा विषय रूप ले लेता है जिसके द्वारा जो भी अन्य लोग उस भाषा को जानते हैं वे उसको समझ

सकते हैं या प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु विषय रूप लेने से इसमें दो विशेषताएँ उत्पन्न होती हैं, एक तो यह कि उसने जो भाषा का रूप लिया है वह दूसरे को समझ में आना चाहिए। केवल प्रत्यक्ष रूप में ही उपस्थित होकर वह नहीं समझी जा सकती। उसको समझने के लिए कुछ और तरह की कोशिश करनी पड़ती है। हर किसी को समझना कोई आसान बात नहीं है। हाल तो यह है कि आदमी अपनी ज़ुबान को छोड़कर जिसमें वह पैदा हुआ है बाकी सब ज़ुबानों को मुश्किल से ही समझ पाता है। इसलिए ज़ुबान दुनिया की और चीज़ों से बिल्कुल अलग है। यही नहीं, बल्कि उसको समझने की बात को लेकर आदमियों में फ़र्क पैदा हो सकता है। इसलिए ज्ञान की बात करते ही यह बात पैदा होती है कि असल में जो कोई इस ज्ञान को समझ रहा है, क्या उसकी समझ ठीक है? और इसके बारे में फैसला होना बहुत ही मुश्किल होता है। यही नहीं, एक तरह से देखें तो मुश्किल और ज़्यादा महसूस हो सकती है। और वह यह है कि खुद जिसने उस इल्म को ज़ुबान में बाँधा था वह भी इस चक्कर में पड़ सकता है कि असल में उसका क्या मतलब था। क्या ज़ुबान सही तौर पर उसकी बात को कह पाई है? इससे भी अलग एक और बात यह है कि ज्ञान या इल्म के बारे में यह साफ जाहिर होता है कि उसको समझने के साथ ही, फिर चाहे वह समझ गलत हो या सही, एक सवाल हमेशा उठता है कि वह बात जो कही गई है, सही है या नहीं? यह बात और चीज़ों के बारे में ज़्यादातर नहीं उठती। उनके बारे में तो सिर्फ यह सवाल उठता है कि वह अच्छी है या बुरी, हमें फायदा पहुँचाने वाली है या नुकसान, खूबसूरत है या बदसूरत। ज्ञान के बारे में जो सवाल उठाया जा सकता है, और एक तरह से उठाया जाता भी रहा है, कि उसका फायदा क्या है? आदमी को उस ज्ञान की क्या ज़रूरत है? और, अगर ज़रूरत नहीं है तो वह अपना वक्त उसको समझने में बेकार क्यों लगाए? पर, सही या गलत होने का जैसे सवाल ज्ञान के साथ जुड़ा हुआ मालूम होता है, वैसा फायदे या नुकसान के साथ नहीं।

यह ठीक है कि कभी-कभी प्रत्यक्ष के ज्ञान में भी शंका उत्पन्न होती है और यह लगता है कि क्या असल में जो मैं देख रहा हूँ वह वैसा ही है जैसा मुझे दिख रहा है? रस्सी और साँप की मिसाल हिन्दुस्तानी फिलसफे में मशहूर है और यह सब को पता है कि हमें सूरज चलता हुआ दिखाई देता है जबकि कम से कम आज सब के सब यह मानते हैं कि जमीन चलती है, सूरज नहीं। इन दो तरह की गलतफहमियों में एक ऐसा फ़र्क है जिस पर लोगों का ध्यान नहीं गया है। रस्सी दिखने पर साँप का दिखना बंद हो जाता है। पर, यह जान लेने पर भी कि जमीन चलती है, सूरज नहीं, सूरज का चलते दिखना बन्द नहीं हो जाता। इन दोनों मिसालों से ऐसा लगता है कि ज्ञान के दो प्रकार हैं, एक ऐसा कि जिसके होने पर गलतफहमी बिल्कुल खत्म हो जाती है और दूसरा वह जहाँ गलतफहमी या गलत दिखना बरकरार बना रहता है, सिर्फ बुद्धि के स्तर पर एक फ़र्क पैदा होता है,

यानि कि हम अपने-आप से यह कहते हैं कि दिखता तो है पर असल में ऐसा नहीं है। लेकिन कुछ ऐसे भी मौके होते हैं जब हम गलत दिखने को यह जानकर भी कि वह गलत है, पसन्द करते हैं। यही नहीं, बल्कि उस गलत दिखने को पैदा करने के लिए कोशिश करते हैं कि उन सब तरीकों को अपनायें जिनसे कि वह हमें गलत दिखे, क्योंकि इन संदर्भों में गलत दिखना ही सुन्दर होता है।

अगर हम इस बात पर कुछ अधिक ध्यान दें तो एक अजीब-सी उलझन हमारे सामने पैदा होती है। क्योंकि हम यहाँ इस बात को स्वीकार करते हैं कि कुछ विशेष संदर्भों में जो गलत है या भ्रमपूर्ण है वही ठीक है क्योंकि वह हमारी चेतना में एक ऐसी स्थिति उत्पन्न करता है जो वांछनीय है। और, यदि ऐसा है तो फिर इसका एक नतीजा यह होगा कि हम सत्य-असत्य के विचार से उसको अधिक श्रेयस्कर मानेंगे जो हमारी चेतना में वांछित स्थिति को उत्पन्न करता है। एक प्रकार से अनेक कलाकृतियाँ, पौराणिक आख्यान, साहित्यिक रचनाएँ तथा सभी आध्यात्मिक साधन आदि इसी श्रेणी में आते हैं। इन सब में सत्य-असत्य की बात करना बेकार सा ही लगता है क्योंकि ये हमें उनसे अधिक अर्थवत्ता लिए हुए प्रतीत होते हैं जिनके सम्बन्ध में सत्य असत्य की बात उठाना हम ज़रूरी समझते हैं। तो क्या आदमी अपनी सार्थकता उसी में पाता है जिसका सत्य से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है? कुछ हद तक यह बात मनुष्य की उस वृत्ति में मिलती है जो उसे लगातार उन चीज़ों की खोज में लगाए रखती है जिनके खाने या पीने से उसकी चेतना में एक अजीब सा परिवर्तन आता है जिसे वह अच्छा समझता है। बहुत-सी नशा करने वाले चीजें इसी तरह की हैं और हालांकि हरेक युग में और हर सभ्यता में इनका उपयोग बुरा माना गया है तब भी मनुष्य बार-बार इनकी ओर आकृष्ट होता है। चेतना में परिवर्तन के ये सब तरीके क्या इस ओर इशारा नहीं करते कि मनुष्य वास्तव में बाह्य जगत् को एक साधन के रूप में ही स्वीकार करता है जबकि साध्य वह स्वयं को ही मानता है? पर, बाहर के जगत् में अन्य प्राणी भी तो हैं जिनमें ऐसी चेतना है कि उसको भी सुख-दु:ख होता है और उनमें से कुछ तो ऐसे भी हैं जो आत्म-चेतन हैं और हमारी तरह ही अपनी चेतना को केन्द्र बनाये सारे जगत् को उसके चारों तरफ घूमता हुआ ही देखते हैं। पर यह ज्ञान कि मैं दूसरे के सुख-दु:ख का कारण हो सकता हूँ, कि मैं जो करता हूँ या कहता हूँ या जो भी मेरा व्यवहार है वह उसकी चेतना को प्रभावित करता है, क्या मेरे में कुछ उत्तरदायित्व का बोध उत्पन्न नहीं करता? और करता है, फिर क्या यह मेरे में एक अन्य केन्द्रित भावना या चेतना को जन्म नहीं देता? और क्या सारा खेल इस स्वकेन्द्रित चेतना और अन्य केन्द्रित चेतना के बीच के तनाव या संघर्ष का ही नहीं है?

पर यदि 'अन्य' हैं और मेरा व्यवहार उनको प्रभावित करता है और इसकी चेतना मेरे में उनके प्रति उत्तरदायित्व की भावना को जन्म देती है तो क्या मनुष्य

की चेतना के लिए 'अन्य' की सत्ता स्वतन्त्र रूप में सत् नहीं है? और, अगर ऐसा है तो फिर जो लोग यह मानते हैं कि वास्तव में सत् एक ही है और कोई भी भेद अपने आप में सत् नहीं है वे कहाँ तक ठीक समझे जायें?

बहुत से लोग ऐसा कहते मिलेंगे कि अगर हम अपने और दूसरे में फ़र्क को मानें तो फिर हम उसके प्रति कैसे ठीक बर्ताव कर सकेंगे? पर, सोचने पर तो यह बात ठीक नहीं मालूम होती, क्योंकि हम दूसरे के प्रति वैसा व्यवहार करना ठीक नहीं समझते जो अपने प्रति करते हैं। जब कोई मेहमान घर में आता है तो हम उसकी खातिर करते हैं चाहे हमने स्वयं उपवास ही क्यों नहीं कर रखा हो। कोई भी जो यह मानता है कि स्वयं उपवास करना चाहिए, या कम से कम खाना चाहिए, या सहिष्णु होकर सर्दी-गर्मी को बर्दाश्त करना चाहिए, वह दूसरे के लिए ऐसा करना ठीक नहीं समझेगा कि उसको कम से कम खाना खिलायें और सर्दी-गर्मी में ठिठुरने या तपने दे। यह मिसाल बहुतों को हँसी की बात लगेगी, पर अगर हम इस पर गहराई से सोचें तो यह इतनी हँसने की बात नहीं है क्योंकि इसमें वह बात छिपी है जो हम को यह बताती है कि हम दूसरों के प्रति व्यवहार में और अपने प्रति व्यवहार में एक गहरा भेद करते हैं और इस भेद का मूल वह है जो मेरे और 'अन्य' की सत्ता में है। क्या किसी को यह बताने की ज़रूरत है कि हर आदमी अपने माता-पिता, स्त्री, बच्चों, पति या रिश्तेदारों के लिए ऐसा बहुत कुछ करता है जो वह अपने लिए करने के लिए न केवल तैयार नहीं होगा बल्कि जिसको वह गलत भी समझेगा।

इस सबको यह कहकर टाल देना कि यह सब व्यवहार-सत् है, पारमार्थिक सत् नहीं समस्या का कोई हल नहीं करता, क्योंकि समस्या तो व्यावहारिक स्तर की है और हम जो शरीर, मन, बुद्धि और अहंकार आदि से अनुप्राणित हैं वे तो व्यवहार जगत् में ही रहते हैं। और अगर कोई जीवन मुक्त हो भी जाता है तो भी उस बेचारे को कुछ तो करना ही पड़ता है, कम से कम जब तक वह ज़िन्दा रहता है।

असल में हम कर्म से जिस संसार की रचना करते हैं उसके सत्य की खोज करना ज्ञान का लक्ष्य होना चाहिए, न कि केवल उस सत् के सत्य की खोज करना जो हमसे बिल्कुल ही परे है और जो हमारे चिन्तन-मनन, व्यवहार आदि से बिल्कुल ही प्रभावित नहीं होता। सुना है भगवान् भक्ति से प्रभावित होते हैं और कहीं उन्होंने ऐसा भी कहा है कि मैं वहीं निवास करता हूँ जहाँ मेरे भक्त मेरी भक्ति में तन्मय होकर कीर्तन करते हैं। पर, भगवान् की बात छोड़ भी दें तो भी प्रत्येक मनुष्य एक जगत् का सृष्टा है। और वास्तव में तो हम सब मिलकर ही एक ऐसे जगत् की सृष्टि करते हैं जहाँ हम दूसरे के सुख-दुःख के कारण बनते हैं और एक-दूसरे के श्रेय और प्रेय में साधक और बाधक सिद्ध होते हैं। अगर हमारी यही नियति है तो हम इसको सहर्ष स्वीकार क्यों न करें और एक ऐसे जगत् की सृष्टि

करने में संलग्न हों जहाँ प्रत्येक एक-दूसरे के हित का साधक बनता है, बाधक नहीं। क्या मानवीय स्वर्ग की यही परिभाषा नहीं होगी?

हमने कहा था आओ, कुछ नया सोचें और उस सोचने की प्रक्रिया में हमने अपने विचार को सहज रूप में धीरे-धीरे अनेकानेक समस्याओं में उलझाया भी। यह सब 'नया' नहीं भी हो पर कम से कम 'सोचने' का उदाहरण तो है ही और एक तरह से इसका लक्ष्य भी यही था कि हम सोचने की प्रक्रिया की ओर ध्यान दें, उसके किसी विशेष फल की ओर नहीं। 'सोचना' कुछ उस प्रकार के भ्रमण जैसा है जहाँ आप केवल आनन्द के लिए जाते हैं और जहाँ कोई आकर्षक मोड़ मिलता है उसी ओर चले जाते हैं। 'बौद्धिक चिन्तन' का नाम ही 'सोचना' है। इसका लक्ष्य कहीं पहुँचना नहीं होता, पर केवल घूमने का ही आनन्द लेना होता है। दर्शन या फिलसफा इसी को कहते हैं, उसको नहीं जो आपने बड़ी-बड़ी मोटी किताबों में पढ़ा है। अगर आपको अच्छा लगा हो, आनन्द आया हो, तो आप भी स्वयं, और दोस्तों के साथ, इस प्रकार के बौद्धिक उद्यानों में विचरण किया करें।

❑